21वीं सदी में भारतीय शिक्षा व्यवस्था कुछ समस्याएँ कुछ समाधान

सुनीता कुमारी नागर*
अन्विति सिंह**

यह सर्वविदित तथ्य है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन एवं विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह किसी व्यक्ति समाज एवं देश के लिए निर्णायक मोड़ होती है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा देश के विकास को वांछित गति एवं दिशा दी जा सकती है। यह शिक्षा ऐसी हो जो अपने समाज की विविध आवश्यकताओं को पूरा कर सके। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में भारतीय शिक्षा व्यवस्था एक निर्णायक दौर से गुजर रही है। अपनी शिक्षा व्यवस्था द्वारा देश की विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने की इस प्रक्रिया में उसे किन क्षेत्रों में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है? प्रस्तुत लेख में इसी बात पर चर्चा की गई है।

किसी भी देश की शिक्षा का स्वरूप उसके काल, परिस्थिति एवं परिवेश सापेक्ष होता है। ये सब परिवर्तनशील हैं इसलिए इनका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह इक्कीसवीं सदी है। वैश्वीकरण, सूचना प्रोद्यौगिकी एवं वैज्ञानिक सोच इस सदी की विशेषताएँ हैं। समाज इन्हीं मूलभूत प्रक्रियाओं द्वारा परिचालित हो रहा है। स्पष्ट है कि आज की शिक्षा का स्वरूप इन्हीं प्रक्रियाओं पर आधारित हो परन्तु भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आकलन करने पर छवि कुछ और ही दिखती है।

आजादी के छह दशक बीत जाने के पश्चात जब हम भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आकलन करते हैं तो पाते हैं कि यूँ तो शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। विद्यालयों में विद्यार्थियों की सँख्या में बेतहाशा बढ़ोतरी हुई है। विद्यालय, महाविद्यालय एवं दूरस्थ शिक्षा केंद्रों-की सँख्या में

* *शोध छात्रा*, साँख्य-योग विभाग, दर्शन संकाय, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
** *शोध छात्रा*, शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भी बढ़ोतरी हुई है, परन्तु फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में भारत अभी बहुत पीछे है। विश्व में सर्वाधिक निरक्षर भारत में ही हैं तथा बच्चों एवं युवाओं का एक बहुत बड़ा वर्ग अभी भी विद्यालयी शिक्षा के दायरे से बाहर है।[1] हमारे देश में शिक्षा की हालत कितनी खराब है, इस विषय में बहुत से लोग सोच भी नहीं सकते। विद्यालयों से शिक्षक गायब है और वयस्क निरक्षरता की दर अभी भी 34% है। यही वजह है कि विकास के दौर में भारत 182 देशों के मध्य 134वें स्थान पर है कमोवेश जहाँ पहले था वहीं।

यही हाल रहा तो हम कब सबके लिए शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त कर सकेंगे इसकी कोई समय सीमा नहीं बता सकेगा। यूनेस्को की ग्लोबल मॉनिटरिंग रिपोर्ट (2003) के अनुसार भारत सर्वशिक्षा अभियान का लक्ष्य सन् 2015 तक भी पूरा नहीं कर पाएगा। सारी दुनियाँ के 130 देशों की अलग-अलग श्रेणियों में (विद्यालयी शिक्षा में प्रगति के आधार पर) भारत सबसे नीचे है। इस श्रेणी में भारत के अलावा नेपाल, पाकिस्तान तथा सहारा अफ्रीका के 10-12 देश हैं।[2]

आज आवश्यकता है शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिर्वतनों की। शिक्षा के विभिन्न स्तर यथा प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च स्तर पर व्यापक परिवर्तन किए जाने पर ही हम शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त कर पाएँगे तथा एक विकसित राष्ट्र के रूप में उभर पाएँगे।

भारत को यदि विकासशील राष्ट्र से विकसित राष्ट्र की यात्रा सफलतापूर्वक तय करनी है तो इसे सबसे पहले अपनी शिक्षा पद्धति पर ध्यान देना होगा। कहीं न कहीं कोई न कोई खामी जरूर है तभी आजादी के 62 वर्ष बीत जाने पर भी ग्रामीण-शहरी, स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, एवं विभिन्न जातियों के मध्य अंतर कम होने की जगह बढ़ता ही गया है।[3] शिक्षा समाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है अतः जाहिर है कि इस माध्यम का हमने सामाजिक परिवर्तन के लिए यथेष्ट रूप से इस्तेमाल नहीं किया।

देश की शिक्षा व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की माँग आजादी के समय से ही की जा रही है और यह आवश्यक भी है। 1972 में यूनेस्को द्वारा विश्व के सभी देशों की प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया था, जिसमें यह बताया गया था कि समाजवादी राष्ट्र को छोड़कर शेष सभी राष्ट्रों में शिक्षा का प्रयोग प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को बनाए रखने के लिए किया जा रहा है और शिक्षा के द्वारा वर्ग भेद की भावना दिनों-दिन मजबूत की जा रही है। वर्तमान में यदि हम विभिन्न राज्यों की विभिन्न पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह सिद्ध हो जाएगा कि हमारी शिक्षा व्यवस्था उन सिद्धान्तों को वैधता प्रदान करने का कार्य कर रही है जो समाज एवं कहीं-कहीं संविधान विरोधी भी होते हैं।[4] एक

[1]वर्मा. सुबोध 2010, *एजुकेशन - एन अनफिनिश्ड रिवॉल्यूशन.* द टाइम्स आफॅ इण्डिया . 25 जनवरी 2010.

[2]सदगोपाल. अनिल 2006, *शिक्षा समानता और भारत की संप्रभुता,* शिक्षा विमर्श (5) पृ. 6-15।

[3]काक. एस. के. 2010, *ए जर्नी वी मस्ट मेक.* द टाइम्स ऑफ इण्डिया. 28 जनवरी 2010.

[4]गुप्ता. राजीव 2007, *सामाजिक विभेद को स्थापित करती पुस्तकें,* शिक्षा विमर्श (1) पृ. 32-35

ओर हम नारी सशक्तिकरण एवं अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के विकास एवं उत्थान की बात कर रहे हैं और दूसरी ओर हमारे विद्यालयों में ऐसी पाठ्यपुस्तकें पढ़ाई जा रही हैं जो उनकी नकारात्मक छवि प्रस्तुत करती है। स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था शिक्षितों और जनसाधारण के मध्य न केवल गहरी खाई उत्पन्न कर रही है बल्कि शिक्षितों के मन में जनसाधारण के प्रति उपेक्षा एवं विरोध के भाव भी उत्पन्न कर रही है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के संबंध में जो बात स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों ने कही थी वह आज की परिस्थिति में और भी अधिक प्रासंगिक हो उठी है। हमारी शिक्षा व्यवस्था पर प्रारंभ से ही पाश्चात्य प्रभाव हावी रहे हैं, इसके द्वारा न तो राष्ट्रीय आदर्शों का पोषण हुआ है और न राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति।

पाश्चात्य आदर्शों की आलोचना का अर्थ यह कतई नहीं है कि हमें पश्चिम से कुछ ग्रहण नहीं करना है। वर्तमान वैज्ञानिक तथा यांत्रिक ज्ञान मुख्यत– पश्चिम का ही है और कोई भी विकासोन्मुख तथा आधुनिक बनने की इच्छा रखने वाला राष्ट्र उस ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु अपनी आवश्यकताओं का सही–सही आकलन किए बिना यदि हम पश्चिम के ज्ञान को आयातित करते हैं तो उससे हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होता बल्कि वे और भी जटिल हो उठती हैं। इसलिए हमारी शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप, विषय तथा उद्देश्य सभी कुछ बदलने की आवश्यकता है। हमें जनसाधारण के विकास को अपना लक्ष्य बनाना होगा और विद्यालयों को सामाजिक क्रांति का केंद्र।

हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक का पाठ्यक्रम दोषपूर्ण है। यह न केवल हमारे राष्ट्रीय आदर्शों से अलग है अपितु इसके द्वारा हमारी राष्ट्रीयता के विकास में बहुत बाधा पहुँच रही है। अत: प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालयी कक्षाओं तक के पाठ्यक्रम में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षा की गुणवत्ता प्राथमिक स्तर से ही सुधारी जा सकती है। उसके बाद सुधारना कठिन है। प्रो. यशपाल ने '*शिक्षा बिना बोझ के*' (1993) नामक रिपोर्ट में कहा था कि भारत की विद्यालयी शिक्षा में बड़ी सँख्या में आरंभिक कक्षाओं में ही बच्चों के आक्रांत हो जाने की एक वजह उसका दुर्बोध होना है। पुस्तक लेखक सूचनाओं से आतंकित रहते हैं और सूचनाएँ ठूँसकर पुस्तकों को बोझिल बना देते हैं फलत: वह छात्र एवं शिक्षक दोनों के लिए दुर्बोध हो उठती है। इतना ही नहीं पाठ्यक्रम में सुधार के नाम पर उसका स्तर बढ़ा दिया जाता है और ऐसी चीजें भर दी जाती हैं जिन्हें उस स्तर के बच्चे समझ ही नही पाते। ऐसी स्थिति में शिक्षा ज्ञानवर्द्धन का साधन न बनकर तोता रटंत हो उठती है। उच्च स्तर की कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों यथा समाजशास्त्र और मनोविज्ञान आदि विषयों में प्राय: जो उदाहरण दिये जाते हैं वे पश्चिम के समृद्ध समाज के होते हैं और उनका हमारे जीवन से कोई संबंध नहीं होता। प्रो. यशपाल की '*शिक्षा बिना बोझ के*' रिर्पोट के आधार पर एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों में सुधार लाने के प्रयत्न किये हैं परन्तु यह प्रयास कितने शिक्षकों

और विद्यार्थियों को लाभान्वित कर रहे हैं, यह देखे जाने की जरुरत है।

अभी हाल ही में भारतीय विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता पर ए.एस.ई.आर. के एक अध्ययन के अनुसार चार वर्ष की विद्यालयी शिक्षा पूरी करने वाले 38% बच्चे छोटे-छोटे वाक्यों वाला वह पैराग्राफ नहीं पढ़ सकते जो दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए होता है ऐसे 55% बच्चे तीन अंकों की सँख्या को एक अँक की सँख्या से भाग नहीं दे सकते।[5] इससे पता चलता है कि अन्य विषयों की पढ़ाई की क्या स्थिति हो सकती है।

माध्यमिक शिक्षा बमुश्किल 25% से 30% बच्चों को उपलब्ध है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति अर्थात दलित एवं आदिवासी बच्चों में यह आँकड़ा मुश्किल से 20% है लड़कियों की हालत और भी बुरी है। आदिवासी लड़कियों का आँकड़ा बताता है कि बडी मुश्किल से 17% लड़कियाँ 10वीं तक पहुँच पाती हैं, उत्तीर्ण आधे से भी कम होती हैं क्योंकि माध्यमिक शिक्षा में असफलता की दर 50% से अधिक है।[6]

एक नजर अनुसूचित जनजाति तथा आदिवासियों की शिक्षा पर डालें तो ज्ञात होता है कि पिछले 62 वर्षों में आदिवासियों के लिए अनेक शैक्षिक योजनाएँ आरंभ की गई। परन्तु सच्चाई यह है कि उनके लिए आज तक सुविधासम्पन्न प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा केंद्रों का निर्माण नहीं हो सका। झारखण्ड जो एक आदिवासी बहुल राज्य है, में बहुत से विद्यालय एवं महाविद्यालय खुल गए हैं जो अँग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा देते हैं। परन्तु आदिवासियों को उनकी अपनी भाषा में पढ़ाना अब भी शुरु नहीं हुआ है।[7] आज भारत में आदिवासियों की भाषाएँ खत्म हो रही है या यूँ कहें कि खत्म की जा रही हैं। उनकी 600 भाषा/बोलियाँ है जिनमें से 90 में साहित्य लिखा जा रहा है।[8] फिर भी हम उन्हें उनकी भाषा में नहीं पढ़ाते। इक्का-दुक्का आदिवासी लड़के शिक्षा में आगे आ पाते है और उन्हें भी ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे अपनी ही संस्कृति को हेय समझते हैं। आम आदिवासी के बच्चे तो प्राथमिक विद्यालय तक भी नहीं पहुँच पाते। जो पहुँचते हैं वे इसलिए विद्यालय छोड़कर चले जाते हैं कि वे उस शिक्षक के साथ सामंजस्य ही नहीं बिठा पाते जो उनके समाज के नहीं होते और जो उनकी भाषा एवं संस्कृति को हेय समझते हैं।

सरकार ने आदिवासियों के लिए छात्रावास तो बहुत बनाए हैं पर उनकी सच्चाई यह है कि वहाँ या तो खाना ही नहीं मिलता या इतना कम कि बच्चों का पेट ही नहीं भरता।

इन समस्त कमियों के अलावा भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे बड़ी कमी है विविध प्रकार के विद्यालय। आवश्यकता है कोठारी आयोग द्वारा सुझाई गई समान विद्यालय प्रणाली लागू करने की परंतु हाल ही में लागू हुए 'बच्चों के

[5]पित्रोदा, सैम 2010, *ज्ञानवान समाज के निर्माण की जरुरत,* योजना 53.9 पृ. 56

[6]सदगोपाल. अनिल 2006, *शिक्षा समानता और भारत की संप्रभूता,* शिक्षा विमर्श (5) पृ. 6-15

[7]गुप्ता. रमणिका 2010, *आदिवासी: आकाँक्षाओं के धूमिल क्षितिज.* आजकल (9) पृ. 66-69

[8]वही.

लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा अधिकार अधिनियम' के प्रारंभ में चार प्रकार के विद्यालयों के अस्तित्व को मान्यता दे दी गई है जो इस प्रकार है–

1. सरकारी विद्यालय;
2. अनुदान प्राप्त निजि विद्यालय;
3. विशेष श्रेणी के विद्यालय; एवं
4. अनुदान न पाने वाले निजि विद्यालय।

यही नहीं सरकार स्वयं अनौपचारिक शिक्षा (नॉन फार्मल) के नाम पर अधिकाँश बच्चों को वैकल्पिक विद्यालयों, शिक्षा गारंटी केंद्रों इत्यादि में दोयम दर्जे की शिक्षा उपलब्ध करा रही है जो शिक्षित करने के नाम पर केवल साक्षर करती है। इस प्रकार शिक्षा के भेदभाव के दूर करने की बजाए उसे एक प्रकार से मान्य एवं पुष्ट ही किया जा रहा है। यह भारत में शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ते हुए भेदभाव, गैर-बराबरी और शिक्षा के बाजारीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए काफी है जबकि आवश्यकता उस पर तत्काल रोक लगाने की है।

यह तो सच है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बहुत विस्तार हुआ है परंतु जिस तेजी से जनसँख्या बढ़ी है और उदारीकरण के बाद बाजार में कौशलयुक्त व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ी है उस तेजी से इसका विकास नहीं हुआ। आजादी के 6 दशक और उदारीकरण के 2 दशक बीतने के बाद भी उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (Gross Enrolment Ratio) 11% है, जबकि विकसित देशों में यह 25% है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शहरी युवाओं का वर्चस्व है। ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षा के केंद्रों की कमी इसका प्रमुख कारण है। यही वजह है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं महिलाओं की भागीदारी भी अपेक्षाकृत कम है।

यही नहीं शिक्षा व्यवस्था में लचीलेपन की कमी तथा शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में विभिन्नता की वजह से क्षेत्रों को अधिक विकल्प नहीं मिल पाते और उच्च शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में विद्यार्थियों की कमी महसूस की जाती है। विज्ञान, मानविकी और वाणिज्य के आधारभूत विषयों का अध्ययन अध्यापन परंपरागत तरीके से ही होता है। हमारी ऐसी उच्च शिक्षा व्यवस्था ऐसे स्नातकों की फौज खड़ी कर रही है जो श्रम बाजार के लिए उपयुक्त होते ही नहीं। फलतः शिक्षित बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होती है।

भारतीय श्रम रिपोर्ट, 2007[9] के अनुसार रोजगार के अवसर तो हैं पर उसके लिए उपयुक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी है। अर्थात बेरोजगारी से कहीं अधिक गंभीर समस्या विभिन्न कौशलों में प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी की है। रिपोर्ट के आँकड़े जो चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह चिंतनीय है। इसके अनुसार 53% रोजगारयुक्त व्यक्तियों में कुछ न कुछ कौशलों की कमी है और केवल 8% युवा ही रोजगार के उपयुक्त हैं। रिपोर्ट के अनुसार 57% युवाओं में वांछित कौशल की कमी है। विद्यालयों, महाविद्यालयों से निकलने वाले 90% युवा किताबी ज्ञान रखते हैं। जो श्रम बाजार के किसी काम का नहीं। स्पष्ट है कि हमारे देश की उच्च शिक्षा व्यवस्था उदारीकरण के दो दशक बाद भी वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में

[9]पालीवाल. डी. के. 2010, को रिलेशन बीटवीन एजुकेशन एण्ड ग्लोबलाइजेशन. *यूनिवर्सिटी न्यूज.* 48(1) पृ.1-3

सक्षम नहीं हो पाई है। अगले चार वर्षों में विश्व की 25% श्रमशक्ति भारत में होगी।[10] स्पष्ट है कि इस श्रमशक्ति का लाभ लेने के लिए तथा भारतीय अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए उच्च शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता के लिए भारत सरकार ने सन् 1957 में यू.जी.सी. की स्थापना की, परंतु गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए जो अधिकार इस आयोग को दिए जाने चाहिए थे वे नहीं दिए गए। इसके अलावा एक दर्जन से अधिक व्यावसायिक परिषदों की स्थापना की गई, जिसमें हरेक को अपने क्षेत्र से संबंधित अधिकार दिए गए जैसे मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया, ए.आई.सी.टी.ई. इत्यादि। परन्तु इनमें किसी प्रकार का समन्वय न होना भी एक समस्या है। विश्वविद्यालय और परिषद भी अधिकारों को लेकर आपस में लड़ते रहते हैं और शिक्षा की गुणवत्ता को बनाए रखने की जिम्मेदारी एक दूसरे पर डालते रहते हैं।

शिक्षा के निजीकरण ने एक ओर सरकार को उच्च शिक्षा के दायित्व से कुछ हद तक मुक्त तो कर दिया लेकिन इसके साथ ही निजी संस्थानों को शिक्षा को व्यवसाय बनाने की छूट भी मिल गई। शिक्षा का निजीकरण बुरा नहीं बशर्ते इसे व्यवसाय न बनाया जाए और इसकी गुणवत्ता के साथ कोई समझौता न किया जाए। परंतु वर्तमान में अच्छी निजी संस्थाओं और स्तरहीन संस्थाओं के मध्य अंतर करना कठिन है फलस्वरूप शिक्षा के केंद्र डिग्रियाँ बाँटने वाली संस्थाएँ बनकर रह गई हैं।

सन् 1983 में अमरीका सरकार द्वारा नियुक्त '*कमीशन फॉर एक्सीलेंस इन एजुकेशन*' ने अपनी '*द नेशन एट रिस्क*' रिपोर्ट में अमरीका जनता को चेतावनी देते हुए कहा था—

> '*हमारे समाज में शिक्षा की बुनियाद सामान्य स्तर की योग्यताओं के कारण कमजोर होती जा रही है तथा भविष्य में राष्ट्र तथा जनता के लिए खतरा बन सकती है।*'[11]

यह कथन वर्तमान में हमारे देश के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जितना तब अमेरिका के लिए था।

भारत में उच्च शिक्षा की प्रणाली कोई छोटी नहीं फिर भी सकल राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में उच्च शिक्षा पर होने वाला व्यय 1980–81 में 0. 98% था जो 1994–95 में घटकर 0.35% और 2006–07 में मात्र 0.22% ही रह गया है। प्रति व्यक्ति शिक्षा पर होने वाला सरकारी व्यय 1990–91 में निरंतर घटता ही चला गया। इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किए जाने की आवश्यकता है।[12]

इनके अलावा भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था तमाम तरह की परेशानियों से जूझ रही है जैसे भौतिक एवं मानव संसाधनों की कमी, आर्थिक तंगी तथा शिक्षा का माध्यम इत्यादि। इन सभी समस्याओं से मुक्ति पाना यदि आसान नहीं है तो कठिन भी नहीं है। आवश्यकता है तो केवल

[10] चन्सौरिया, मुकेश 2009, *भारत में उच्च शिक्षा – समस्याएं एवं समाधान.* योजना 53.9 पृ. 27–30

[11] पालखीवाला. ननी 2003, *हम हिन्दुस्तानी.* राजपाल एंड संस. पृ. 140–144

[12] चन्सौरिया, मुकेश 2009, *भारत में उच्च शिक्षा – समस्याएं एवं समाधान.* योजना 53.9 पृ. 27–30

शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन लाने के लिए राजनैतिक संगठनों में इच्छा शक्ति की यदि वे चाहें तो कुछ भी संभव है।

यहाँ प्रश्न यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में क्या परिवर्तन करने चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें उन समस्त आयोगों और समितियों जिन्हें समय-समय पर शिक्षा के क्षेत्र में बदलाव लाने के लिए एवं भारतीय शिक्षा व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए गठित किया गया था जैसे माध्यमिक शिक्षा आयोग, कोठारी आयोग, आचार्य राममूर्ति समिति, यशपाल समिति इत्यादि के सुझावों को जल्द से जल्द अमल में लाना होगा। क्योंकि इनके सुझाव आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे जब इन्हें गठित किया गया था।

यदि वास्तव में देश के सारे बच्चों को अच्छी, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देनी है तो सरकार को ऐसे कानून और नीतियाँ बनानी चाहिए जिनमें निम्न बातें सुनिश्चित हों–

सर्वप्रथम तो यह आवश्यक है कि देश में समान विद्यालय प्रणाली लागू हो, जिससे कि विद्यालयों की विविधता समाप्त हो जाए और सबको शिक्षा के समान अवसर मिले। जब तक देश में समान शिक्षा प्रणाली लागू नहीं होगी तब तक शिक्षा का अधिकार कानून बेमानी है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था सरकार की दोहरी एवं अस्पष्ट नीतियों का परिणाम है जहाँ शिक्षा का स्थान साक्षरता ने, विद्यालय का स्थान अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों ने और शिक्षक का स्थान अर्द्ध शिक्षकों ने ले लिया है।

देखा गया है कि विभिन्न प्रवेश परीक्षाओं में ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले बच्चों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों के बच्चों को अधिक सफलता मिलती है। कारण स्पष्ट है कि शहरी क्षेत्रों के बच्चों को सुविधाएँ अधिक मिलती हैं और समस्त नहीं तो अधिकाँश बच्चे अँग्रेज़ी स्कूलों में पढ़े होते हैं। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा के समान अवसर हम तभी उपलब्ध करा सकते हैं जब समान विद्यालय प्रणाली लागू होगी। इस संदर्भ में हाल ही में केंद्र सरकार द्वारा लिया गया देशभर के उच्च माध्यमिक विद्यालयों में विज्ञान और गणित का समान पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय स्वागत योग्य है।[13] यह शैक्षिक अवसरों की समानता के सिद्धान्त पर अमल करता है। इससे विभिन्न राज्यों के विद्यार्थियों को एक जैसी शिक्षा मिलने की संभावना होगी और प्रतियोगी परीक्षाओं में सबको एक जैसी चुनौती मिलेगी।

शिक्षा का माध्यम विशेषकर प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा का होना आवश्यक है। अनुसंधान[14] यह बताते हैं कि बच्चों को सर्वप्रथम अपनी मातृभाषा में दक्षता प्राप्त करने के पश्चात दूसरी भाषा को सीखना भी आसान हो जाता है। आदिवासियों को भी प्राथमिक शिक्षा उन्हीं की भाषा में दी जानी चाहिए तभी वे आगे बढ़ पाएँगे और मुख्य धारा में शामिल हो पाएँगे। प्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रो. दौलत सिंह कोठारी[15] के अनुसार प्राथमिक और उच्चतर प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को विज्ञान तथा संबद्ध विषयों को अँग्रेज़ी भाषा की तुलना में अपनी मातृभाषा में कही अधिक अच्छी तरह से समझाया

[13] *एक कक्षा एक पढ़ाई* हिन्दुस्तान, 17 फरवरी 2010

[14] सक्सेना. एस. सी. 2009, *शिक्षा का माध्यम और भारतीय भाषाएँ*, योजना, 53.9 पृ. 39-40

[15] अबादजी. हेलन. 2006, *एफिसिएन्ट लर्निंग फॉर द पुअर - इनसाइट्स फ्राम द फ्रन्टियर ऑफ कॉग्निटिव न्यूरो साइन्स*, वर्ल्ड बैंक.

जा सकता है। कारण है कि विषय को समझने से पहले अँग्रेज़ी भाषा को समझने में मानसिक विकास में बाधा पड़ती है और विषय को रटने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता।

हमारे देश में अँग्रेज़ीदाँ लोगों के समक्ष रोजगार के अवसर अधिक सुलभ हैं इसलिए लोग अँग्रेज़ी पढ़ने-पढ़ाने में लगे हैं और अपनी भाषा छोड़ रहे हैं। सरकार चाहे तो ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य बन सकती है कि विभिन्न भारतीय भाषाएँ भी रोजगार-परक बन जाएँ।

विभिन्न आयोगों एवं समितियों ने समय-समय पर प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा करने का सुझाव दिया है परन्तु आज तक उनके सुझावों पर पूर्णरूपेण अमल नहीं किया गया। उल्टे विभिन्न राज्य सरकारें (यथा गुजरात) अँग्रेज़ी को प्रथम कक्षा से ही पढ़ाने की इच्छुक हैं।[16]

शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन का आधार उन तत्वों को बनाया जाना चाहिए जो आज के इस वैश्वीकरण के दौर में मानव जीवन को अधिक प्रभावित कर रहे हैं जैसे सूचना एवं संचार क्रांति तथा शांति के लिए शिक्षा। परन्तु इस बात का भी ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि शिक्षा के द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो। अत: स्थानीयता को केंद्र में रखते हुए वैश्विक शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा में परिवर्तन लाया जाना चाहिए।

शिक्षार्थियों को इतनी स्वतंत्रता और अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए कि वे उत्कृष्ट स्तर के कौशलों और दक्षताओं से परिचित हो पाएँ और अपने अर्जित कौशलों और दक्षताओं का उपयोग 21वीं सदी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कर पाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विविधता एवं लचीलापन लाया जाए।

आदिवासियों की शिक्षा पर और अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के चलाए जाने के बावजूद उनकी स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। आदिवासियों की शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए–

- आदिवासी मनुष्यों में उदासीनता कम करके उन्हें कार्य प्रवृत करना।
- आदिवासियों में जीवन के प्रति अभिलाषा एवं आकाँक्षा उत्पन्न करना।
- उनमें यह आत्मविश्वास जगाना कि परिश्रम से वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं।
- प्रचुर मात्रा में उपलब्ध उपयोग में न लाये गये साधन, संपत्ति तथा श्रमशक्ति के उपयोग से पूँजी निर्मित करना।
- जहाँ तक संभव हो आदिवासी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में देना।
- उन्हें ऐसे शिक्षक उपलब्ध कराना जो उनकी भाषा जाने जिससे कि आदिवासी बच्चे उनके साथ सहज अनुभव कर पाएँ और जो उनकी जीवन शैली को जाने, उनकी इज्ज़त करे न कि उसे हेय दृष्टि से देखे।
- आदिवासियों की शिक्षा का स्वरूप उनके समाज की पृष्ठभूमि को केंद्रित करता हुआ हो। पाठ्यक्रम ऐसा हो कि आदिवासी आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ अपने परंपरागत मूल्यों को भी ग्रहण कर पाएँ।

[16] स्वामिनाथन. ए. ए. एस. 2010, द *फर्स्ट लर्निंग इज़ बेस्ट इन मदर टंग.* द सण्डे टाइम्स ऑफ इंडिया, 31 जनवरी 2010

जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों को स्वतंत्रता दी जाए – सोच में, विचार में स्वतंत्रता। नए पाठ्यक्रमों का निर्माण विश्वविद्यालय में होना चाहिए। विश्वविद्यालय में भी यह स्वतंत्रता और स्वायत्तता शिक्षकों तक जानी चाहिए। विभिन्न विषयों में भी विभाजन ऐसा हो कि वे एक दूसरे से मिलकर फले-फूले न कि बिल्कुल अलग होकर रह जाए।[17]

उच्च शिक्षा और श्रम बाजार के संबंध मजबूत किए जाने चाहिए। बेरोजगारी और कौशल की कमी की समस्या का हल निकालने के लिए ऐसे उपायों की आवश्यकता है जो उच्च शिक्षा और नौकरियों को आपस में जोड़ पाए। व्यवसायिक प्रशिक्षण और उच्च शिक्षा के बीच संबंधों को मजबूती प्रदान की जाए। इससे छात्र अपनी शिक्षा और बाजार में आने वाले रोजगार अवसरों के बीच संबंध बना पायेंगे तथा उसका पूरा लाभ उठा सकेंगे। यशपाल समिति रिपोर्ट (2009)में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ए.आई.सी.टी.ई., एम.सी.आई.ए. जैसी 13 नियामक संस्थाओं को समाप्त कर चुनाव आयोग की तरह एक सर्वसमाहित राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान आयोग के गठन का सुझाव दिया गया है जो स्वागत योग्य है और इसे जल्दी से जल्दी गठित कर दिया जाना चाहिए।

विकास और नवाचार की नयी शताब्दी की ओर बढ़ने के लिए हमें शिक्षा के क्षेत्र में नयी संरचनाओं और विचारों की आवश्यकता है। लोगों को अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करने के मामले में ऐसा बहुत कुछ है जिसे सरकार के लिए करना जरुरी है परंतु समाज को भी वैसा ही दायित्व निभाना होगा। देश में आज जो विशाल असमानता दिखाई दे रही है वह ज्ञान प्राप्ति के पक्षपातपूर्ण रवयै के कारण है इसके निराकरण के लिए हमें शिक्षा के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करनी होगी, एक ऐसी शिक्षा प्रणाली लानी होगी कि कोई भी इसकी परिधि से बाहर रह सके। अत: देश के विकास को गति देने के लिए एक ऐसी शिक्षा प्रणाली के गठन की आवश्यकता है जो नवाचार और उद्यमिता को बढ़ावा दे सके और बढ़ती अर्थव्यवस्था की कौशल आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

[17]यशपाल. 2009. *विश्वविद्यालय एवं समाज के बीच संवाद आवश्यक,* योजना 53.9 पृ. 7-9